मानसिक विष और उसके त्यागके उपाय

संत श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार

दुर्गुणों के उत्पत्ति और सम्बर्धन

एक विष तो ऐसा होता है कि उसकी क्रिया सीमित रहती है, परिणाम भी निश्चित रहता है- जैसे संखिया। किसीने संखिया खा लिया तो उसकी क्रिया शरीरतक ही सीमित रहेगी। शरीर जलने लगेगा, असह्य पीड़ा होगी, हृदयकी गति बन्द हो जायगी, प्राण निकल जायेंगे। बस, इससे अधिक संखिया खा लेनेपर और कुछ भी नहीं होगा। पर कुछ विष ऐसे हैं, जिनकी क्रिया बड़ी व्यापक होती हैं, परिणाम भी निर्धारित नहीं होता। वे विष हैं- घृणा, द्वेष, वैर, काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मात्सर्य आदि दुर्गुण। इनका सेवन मनके द्वारा होता है। इनमें से किसीको भी किसी प्राणीने यदि अपने अन्दर स्थान दे रखा है तो वह संखियाकी तरह सीमित क्रिया करके, निश्चित फल देकर ही निवृत्त नहीं होगा। ये दुर्गुणरूपी विष तो ऐसे हैं जो जन्म जन्मान्तरतक साथ रहेंगे, सदा जलाते रहेंगे, अनेक प्रकारकी यातनाएँ देते रहेंगे और न जाने कितनी बार जन्म मरणकी मार्मिक पीड़ा देंगे।

किन्तु जब मनुष्यकी बुद्धिमें तमोगुण बढ़ता है, तब वह भ्रमवश इन दुर्गुणोंमें अमृतकी भावना करने लगता है;

1. फिर तो वह विरोधी व्यक्तिसे, समाजसे, जातिसे, राष्ट्रसे असूया-घृणा करनेमें अपने गौरवकी रक्षा मानता है,
2. द्वेष-वैर करनेमें अपनी प्रतिष्ठाकी रक्षा होते देखता है,
3. कामनाओंके पोषण करनेका नाम प्रगति रखता है,
4. अन्दर बसी हुई क्रोधकी वृत्तिको तेज मानने लगता है,
5. मदका नाम आत्म-सम्मान रखकर, उसकी रक्षा करना अपना कर्तव्य समझने लगता है,
6. लोभको अपनी उन्नतिका साधन समझता हैं,
7. मोहका नाम प्रेम रखकर जीवनको बर्बाद कर देना आदर्श मानता है,
8. मात्सर्यको व्यक्ति, समाज, जाति और राष्ट्रके सुधार के लिये आवश्यक वस्तु अनुभव करता है।

इसीलिये ये विष - ये दुर्गुण मनुष्यमें बढ़ते चले जाते हैं। अन्तःकरण इनसे इतना ढक जाता है कि हृदयमें विराजित प्रभुकी ओरसे निरन्तर बढ़ती हुई आनन्दधाराके लिये द्वार ही बन्द हो जाता है, हमारी इन्द्रियोंमें प्रभुके द्वारा दिये हुए उस परमानन्दका एक कण भी नहीं आ पाता। **इन्द्रियाँ स्थायी आनन्द पानेके लिये तरसती रहती हैं, भटकती रहती हैं, पर उन्हें स्थायी आनन्द कभी नहीं मिलता।**

जिस समय हमारे अन्दर किसीके प्रति घृणाकी वृत्ति जागती है, द्वेषका भाव उदय होता है, किसी वस्तुके लिये कामना होती है, किसी वस्तु या व्यक्तिको निमित्त बनाकर क्रोध उत्पन्न होता है, अपने प्रभाव, प्रभुत्वकी स्मृति होकर मदके विचार आने लगते हैं, किसी वस्तुके प्रति लोभ होने लगता है, किसी व्यक्तिविशेष या वस्तुविशेषमें मोह (ममता) जाग उठता है, किसीकी उन्नति देखकर मत्सरता (ईर्ष्या, डाह) आती है; उस समय उन-उन वृत्तियोंके अनुरूप ही **विचारोंकी मूर्तियाँ** बनने लग जाती हैं। घृणासे बनी हुई विचारमूर्तिमें नीचे ऊपर, भीतर-बाहर घृणा भरी रहेगी, द्वेषकी विचारमूर्तिमें द्वेष भरा होगा, इसी प्रकार अन्य विचारमूर्तियों में भी वे-वे भाव भरे होते हैं। इन मूर्तियों में **कम्पन** होता रहता है तथा ये जैसी हैं, उसी प्रकारकी **किरणें** इनसे निकलती रहती हैं। साथ ही, जैसे ये मूर्तियाँ हमारे अन्दर बनीं कि बस, उसी क्षण, जिनके, **निमित्तसे बनी हैं, उनकी ओर दौड़ जाती हैं**, उनके पास पहुँच जाती हैं।

उदाहरणके लिये हम घृणाको लें। हमारे अन्दर किसीके प्रति घृणाकी वृत्ति आयी कि उसी क्षण एक **घृणामयी विचारमूर्ति** बन गयी तथा **तुरन्त** ही वह उस व्यक्तिके पास जा पहुँची कि जिसके प्रति हमने घृणा की है। वहाँ जाकर यह उस व्यक्तिके **शारीरिक तेज (Aura)** से चिपट जाती है तथा यदि उसमें पहलेसे ही वैसा बीज (घृणाका सुप्तभाव) वर्तमान है तो उसमें भी अपने अनुरूप घृणाका भाव पैदा कर देती है।

1) यदि वह व्यक्ति उस दूषित भावको ग्रहण करनेके लिये पहलेसे ही घृणाका भाव लिये तैयार बैठा है तब तो कहना ही क्या है, फिर तो **क्षणभरका भी विलम्ब न होकर** उसपर इसका प्रभाव पड़ जाता है और उसके अन्दर भी घृणाका दूषित भाव बेहद बढ़ जाता है।

2) पर कहीं वह व्यक्ति दूसरे विचारमें लगा है, ऐसे विचारोंसे उसका मन भरा है कि जिनसे इसका मेल नहीं खाता तो वहाँ यह हमारी घृणासे निर्मित मूर्ति उस मनुष्यके चारों ओर घूमती रहती है, मौका ढूँढ़ती रहती है कि प्रवेश करनेका कोई

भी **अवसर मिल जाय।** जहाँ एक भी छिद्र इसे मिला, उसके मनमें एक भी घृणासम्बन्धी स्फुरणा आयी कि हमारी वह घृणामयी मूर्ति उसकी स्फुरणासे जुड़ जाती है तथा फिर तो वहाँ घृणाके भावोंका ताँता लग जाता है। इसी प्रकार द्वेष, वैर, काम, मद, लोभ, मोह, मत्सर आदि भी हमारे अन्दर उत्पन्न होते हैं, इनकी विचारमूर्तियाँ बन जाती हैं, जिनके निमित्त बनती हैं; उनके पास जा पहुँचती हैं तथा उनमें द्वेष, वैर, काम, क्रोध आदि उत्पन्न कर देती हैं।

3) कभी-कभी ऐसा भी होता हैं कि हम किसी स्थानपर बैठे हैं तथा किसी निमित्तको लेकर हममें पहले घृणा, द्वेष, वैर, काम, क्रोध आदिके भाव उत्पन्न हुए, पर फिर कुछ देर बाद उस निमित्तको तो हम भूल गये और यों ही किसी व्यक्ति विशेषको लक्ष्य करके नहीं- स्वभाववश हमारा मन क्षण-क्षणमें बदलते हुए घृणा, द्वेष, वैर, काम, क्रोध आदि भावोंसे भावित होने लगा तो उस समय भी इनकी विचारमूर्तियाँ तो बनती ही रहती हैं तथा कोई निश्चित लक्ष्य न रहनेके कारण यद्यपि निश्चित व्यक्तिके पास दौड़कर नहीं जातीं, किन्तु जहाँ जिस स्थानपर ये पैदा हुई हैं, वहाँके आकाशमें, वहाँके वातावरणमें ये बिखर जाती हैं। वहाँ ये नाचती रहती हैं तथा वहाँ जो भी व्यक्ति आता है, उसपर न्यूनाधिक प्रभाव डालती हैं। हममेंसे अधिकांश इस बातको कई बार अनुभव करते हैं, भले ही हम इसका असली रहस्य न समझें। हम देखते हैं हम कहीं चले जा रहे हैं, कोई भी कारण नहीं है, पर सहसा हमारे अन्दर घृणाके भाव आने लगते हैं, द्वेषकी वृत्ति जाग उठती हैं, कामवासना उत्पन्न हो जाती है। ऐसा क्यों होता है? इसीलिये कि उस स्थानपर, वहाँके आकाशमें, वातावरणमें, घृणा-द्वेष-कामकी विचारमूर्तियाँ तैर रही हैं, हमसे आकर टकरा गयी हैं। हम असावधान थे, हमारा अन्दरका द्वार खुला था, वह प्रवेश कर गयी और अपने अनुरूप घृणा, द्वेष आदिके विचार उसने हमारे मनमें भी उत्पन्न कर दिये।

सारांश यह कि हमारे अन्दरके दुर्गुणरूपी विष केवल हमें ही नहीं जलाते, हमारे अन्दरसे निकल-निकलकर तथा दूर-दूरतक फैलकर दूसरोंके पास भी जा पहुँचते हैं और उन्हें भी सन्तप्त करने लगते हैं। यह भी नहीं कि एक बार जलाकर ही शान्त हो जायँ, इन्हें जहाँ एक बार भी स्थान मिल गया तो फिर ये सदा बने रहते हैं और इनकी लपट बढ़ती ही रहती है। ऐसे व्यापक एवं भयंकर फल देनेवाले हैं ये दुर्गुणरूपी विष !

दुर्गुणोंका त्यागका साधना

इस विषयसमूहका- दुर्गुणोंका त्याग अत्यन्त आवश्यक है। अन्यथा हम सदा जलते रहेंगे, कभी सुखी नहीं होंगे। प्रभुके दिये हुए निराविल परमानन्दकी अनुभूति हमें कभी नहीं होगी। वह आनन्द हमें मिलनेका ही नहीं है। आज उस आनन्दकी छायाको विषयभोगके समय यदि हम पाते भी हैं तो उसमें भी ये विष मिल जाते हैं; क्योंकि जिस अन्तःकरणसे, जिन इन्द्रियोंसे हम भोगने जाते हैं, उनमें ये दुर्गुणरूपी विष भरे पड़े हैं, हमारे लौकिक आनन्दको भी ये विषैला कर देते हैं। इसलिये इनका प्रतीकार हमें करना ही है, पर प्रतीकार बातोंसे नहीं होगा। इन्हें शान्त करनेके लिये हमें साधनामें तत्पर होकर लगना पड़ेगा, न जाने कबसे स्थान पाये हुए और निरन्तर बढ़ते हुए इन दुर्गुणोंको जड़-मूलसे उखाड़ फेंकनेके लिये हमें सदा सजग रहकर परिश्रम करना पड़ेगा।

वह साधना क्या है ? किस प्रकारका परिश्रम है ? इसका उत्तर यह है कि इसके लिये पहले तो **यह दृढ़ विश्वास करना पड़ेगा कि वास्तवमें ये भयानक विष हैं** और **शीघ्र-से-शीघ्र त्यागनेयोग्य हैं**। यदि इनमें हमारी **गुण-बुद्धि** बनी रही तब तो ये छूटने असम्भव ही हैं। इसलिये पहले तो इन समस्त दोषोंमें हमारी विष-बुद्धि हो एवं फिर साधनामें लगें।

घृणा

जिस समय हमारे मनमें किसीके प्रति घृणाकी वृत्ति जागे, उसी समय उसी क्षण हम अपनेमें उसके प्रति प्रेमकी भावना जाग्रत् करें। किसी दोषको देखकर ही हम उससे घृणा कर रहे हैं, पर क्या उस व्यक्तिमें केवल दोष-ही-दोष भरे हैं? उसमें कोई भी सद्गुण नहीं हैं? सब दोष-ही-दोष भरे हों, एक भी सद्गुण न हो यह तो असम्भव है। जगत् बना है सत्, रज एवं तमके मिश्रणसे। जहाँ तम है वहाँ रज, सत् भी हैं ही। मात्रा कितनी भी अल्प हो। जहाँ हमें केवल तमोगुण दीखता है, तमोगुणके परिणाम- दोष दीखते हैं वहाँ सत् एवं सत्त्वगुणके परिणाम स्वरूप कोई न कोई सद्गुण भी है ही। फिर हम क्यों नहीं अपनी दृष्टि उस सद्गुणपर ठहराकर उस व्यक्तिसे प्रेम करना आरम्भ करें? उसके उसी सद्गुणको देखते हुए हम उसके प्रति प्रेमकी भावना भेजें। इसका निश्चय परिणाम यह होगा कि जैसे घृणाकी भावना दूसरेमें भी घृणा उत्पन्न करती हैं, वैसे ही प्रेमसे सनी हुई हमारी गुणदृष्टि उस व्यक्तिके पास जाकर उसके उस अल्प सद्गुणको बढ़ा देगी, उसमें प्रेमका बीज बो देगी। उसके प्रति प्रेमकी भावना करके उसमें सद्गुण देखकर हमने उसे तो ऊपर उठाया ही,

हमारे अन्दर जो घृणाकी गन्दी लहर उठी थी उसे इस प्रेमकी लहरने दबा दिया। हम जलने लगते, पर उसके बदले हममें सुखमयी शीतलता आ गयी।

द्वेष

जब हममें किसीके प्रति द्वेषका भाव उत्पन्न हो, उस समय तुरन्त हम यह भाव करें कि 'नहीं, यह तो हमारा मित्र हैं, निश्चय मित्र है, इसके द्वारा हमारी बुराई हो नहीं सकती।' जहाँ ये भाव हमारे मनमें आये कि ये दौड़कर उसके पास भी जा पहुँचेंगे, उसके अनजानमें उसके अन्दर हमारे प्रति मित्रताका बीज बो ही देंगे। यह सम्भव है कि उस व्यक्तिका हृदय उपयुक्त न होनेके कारण अथवा हमारे मित्रभावका बीज पुष्ट न होनेके कारण इसके अंकुरित होनेमें समय लगे। पर उसमें मित्रभावका आरम्भ तो हो ही गया। साथ ही जो द्वेषकी वृत्ति हमें जलाती थी; वह शान्त हो गयी।

काम

जिस क्षण कामसम्बन्धी कोई भावना मनमें प्रकट हो, उस क्षण हम भोगके त्यागकी परम उज्ज्वल भावनाएँ बढ़ाने लग जायँ। भोगको त्याग करनेवाले सन्त पुरुषोंकी त्यागमयी सुन्दर घटनाओंका स्मरण कर वैसे विचारोंकी आवृत्ति करने लगें। परिणाम यह होगा कि तत्परतासे की हुई यह आवृत्ति त्यागमयी विविध सुन्दर विचारमूर्तियोंका निर्माण करने लगेगी। इतना ही नहीं, वातावरणमें ऐसे सुन्दर जो भी विचार फैले होंगे, उनको अपनी ओर आकर्षित करने लगेगी, हमारे ये सुन्दर भाव पुष्ट होने लगेंगे। हमारे अन्दर तो वह कामकी कुत्सित वृत्ति दबेगी ही, वातावरणमें सुन्दर त्यागमय परमाणु बिखर जायँगे, जो दूसरोंकी जलन शान्त करनेमें भी सहायक बनेंगे।

क्रोध

क्रोध आनेकी सम्भावनासे पूर्व ही हम क्षमाके विचारोंका मनन आरम्भ कर दें। परिणाम यह होगा कि स्वभाववश क्रोध आनेपर उनके आगे-पीछे क्षमाके भाव, क्षमाकी मूर्ति घेरे रहेगी। हम सोचें- जब हमसे अपराध बन जाता है, तब 'हमपर कोई नाराज न हो, हमें क्षमा कर दे', यह इच्छा हममें होती है या नहीं? न जाने हम प्रभुका कितना अपराध प्रतिदिन, प्रतिक्षण करते हैं। यदि प्रभु हमें क्षमा न करें तो हमारी क्या दशा हो। अनन्त अपराध हमसे होते हैं और प्रभु अनन्त बार क्षमा करते हैं। फिर हम भी ऐसा निश्चय क्यों न करें कि हमारा भी यदि कोई बार बार अपराध करता हैं तो हम भी उसे बार-बार क्षमादान ही देंगे। तभी हम प्रभुसे क्षमा पानेके अधिकारी हैं। कहनेका तात्पर्य यह कि हमारा यदि क्रोधी स्वभाव

है तो हम बड़ी तत्परतासे दिन-रात निरन्तर क्षमाकी भावनाओंको अपने अन्दर बढ़ायें। अन्यथा जैसे आग जिस वस्तुमें प्रकट होती है; पहले उसे जलाती है, फिर सम्पर्कमें आनेवाली दूसरी- दूसरी वस्तुओंको। वैसे ही क्रोधाग्निसे हम पहले जलेंगे, फिर औरोंको जलायेंगे। यदि हमें इस क्रोधरूपी विषकी ज्वालासे स्वयं बचना है तथा औरोंको बचाना है तो क्षमाकी भावनासे मनको भरते चले जायँ। क्षमाके ये भाव कभी निष्फल तो होंगे ही नहीं, बल्कि हमें शीतल करके दूसरोंके उन दोषोंको भी निश्चय धो देंगे।

मद

ऐसे ही जब अपनेमें पूर्णताकी मिथ्या अनुभूति होकर अथवा अपना प्रभुत्व, गुण देखकर मद जागे, तब हम सोचें- 'यह हमारा मद कितना मिथ्या है। हम बड़े भारी वक्ता हैं। माना, पर वाणीमें बोलनेकी शक्ति किसकी दी हुई है ? प्रभुने ही तो यह शक्ति दी है। यदि प्रभु आज वाणीकी शक्ति छीन लें, लकवा मार जाय तो हमारा यह मद धूलमें मिल जाय या नहीं? हम बड़े भारी विद्वान् हैं, सभी विषयोंकी जानकारी रखते हैं ठीक है, पर हमारे मनमें विद्याका उन्मेष किसने किया? विद्या ग्रहणकी शक्ति मनमें किसने दी। प्रभुकी शक्तिके बिना क्या यह सम्भव है? यदि वे अपनी शक्ति हटा लें, हमारा मस्तिष्क विकृत हो जाय तो हमारा यह विद्यामद चूर-चूर हो जाय या नहीं? हमारा रूप बड़ा सुन्दर हैं, कण्ठ बड़ा मीठा है, संगीतमें हमारी बराबरी कौन कर सकता है ? बहुत ठीक, पर कल यदि हमारे अनन्त दुष्कर्मोमेंसे किसीके फलस्वरूप प्रभु यह विधान कर दें कि चेचक हो जाय, कोढ़ हो जाय, गलेमें कैंसर हो जाय, तो हमारा वह सुन्दर रूप, कलापूर्ण कण्ठ तीन कौड़ीका हो जायगा या नहीं।' मतलब यह कि मदकी वृत्ति जागते ही मनमें अपनी दीनताके भाव तथा सारा महत्त्व प्रभुका है यह भाव बढ़ाने लगें? ये पवित्र दैन्यके विचार और इनसे निर्मित भावमूर्तियाँ हमारे मदको तो कुचल देंगी ही, दूसरेमें भी प्रभुके प्रति आस्तिकताका, प्रभुके महत्त्वका भाव उदय करेंगी। स्वयं हम प्रभुके चरणोंमें नत होकर अभिमानके भारसे मुक्त होंगे, दूसरेका भी भार हलका कर देंगे।

लोभ

लोभकी वृत्तिको हम सन्तोषकी भावनासे नष्ट कर दें। जहाँ मनमें किसी भी वस्तुका लोभ आया हुआ दीखे, बस तुरन्त सोचना आरम्भ कर दें- 'हमें तो सभी आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त हैं ही, हमें और चाहिये ही क्या। दयामय प्रभु स्वयं हमारी आवश्यकताओंका ध्यान रखते हैं, अपने-आप वे हमारी सारी व्यवस्था करते हैं।' ऐसी भावनाएँ हमें तो तृप्त करेंगी ही, हमारे सम्पर्कमें जो भी आयेंगे, उनकी अतृप्ति मिटनेमें भी हेतु बनेंगी। हमारे चारों ओर

'अभी तो और चाहिये', यह जो हाहाकार मचा हुआ है, वह भी किसी-न-किसी अंशमें श्रान्त होगा ही, भले ही वह शान्ति आरम्भमें अत्यन्त नगण्य क्यों न हो।

मोह

मोह (ममता) का अवसर आनेपर हम सोचें- 'क्या सचमुच यह वस्तु हमारी है। यदि हमारी है तो हमसे हमारी इच्छाके बिना अलग क्यों होती है ! हमारी मानी हुई कोई भी वस्तु सदा तो हमारे साथ नहीं रहती। अत्यन्त निकटका हमारा यह शरीर भी तो हमारा साथ नहीं देता। बहुत से व्यक्ति कहते थे, शरीर हमारा है, पर साथ नहीं गया; चिताकी राख बन गया। फिर थोड़ी-सी इनी-गिनी वस्तुओंको हम 'अपनी' क्यों मानते हैं, यह तो हमारा भ्रम है।' ऐसे विचारोंको हम अपनेमें उद्‌बुद्ध करें। फिर इनकी भावमूर्तियाँ सदा हमारे चारों ओर नाचती रहेंगी। मोहका प्रसंग उदय होते ही ये हमारे मनमें ऐसे ही विचार जता देंगी, क्योंकि यह नियम है, जो विचार हमारे अपनेसे सम्बद्ध होते हैं वे एक बार उदय होनेके पश्चात् हमारे ही चारों ओर तैरते रहते हैं, रह-रहकर अपने अनुरूप विचारोंको मनमें उदय कराते रहते हैं। फिर यह होगा कि मोहमें पड़कर कर्तव्यविमुख होनेसे हम बच जायँगे। केवल स्वयं ही नहीं, हमारे ये वैराग्यपूर्ण विचार वातावरणमें फैलकर सर्वथा अनजानमें ही बहुतोंकी व्यथा मिटा देंगे, उनको कर्तव्यपथमें आरूढ़ कर देंगे, नित्य सत्य परमात्माकी ओर बढ़नेका द्वार खोल देंगे।

मत्सरता

इसी प्रकार जब दूसरेकी उन्नति देखकर मत्सरता (डाह) मनमें झाँकने लगे, तब तुरन्त ही उल्लासकी वृत्ति जगाकर हम इसे रोक दें। हमारा अणु अणु दूसरेकी उन्नतिसे प्रसन्न होने लगे, प्रसन्न होकर हम उसके उन्नत सुखमय जीवनके चित्रोंकी कल्पना मन-ही-मन आरम्भ करें। बिना विलम्ब ये विचारके चित्र उसके पास पहुँच जायँगे। जाकर उसके सुखको तो बढ़ायेंगे ही, साथ ही हमारे चारों ओर वैसा ही उन्नत सुखमय वातावरण बन जायगा। हम सुखी हो जायेंगे, क्योंकि यह नियम है, हमारे विचारोंके अनुरूप ही हमारा बाहरी संसार भी बनता है।

दुर्गुणोंका प्रयोग बदल दिया

यह बात नहीं है कि उपर्युक्त दुर्गुणोंका एवं उनके प्रतीकारका बस इतना ही रूप है कि जितना ऊपर कहा गया है। ये दुर्गुण तो विविध प्रकारसे विविध मनुष्योंमें व्यक्त होते हैं तथा उनके प्रकारके अनुरूप ही अनेक उपायोंसे उनका प्रतीकार भी होता है। इनके त्यागकी एक सुन्दर प्रक्रिया यह भी है कि इनका प्रयोग बदल दिया जाय। उचित मात्रामें रोग-विशेषपर, जैसे संखिया अमृतका काम करता है, वैसे ही ये दुर्गुण भी हमारे सहायक बन सकते हैं।

- यदि हममें घृणा है, नहीं मिटती तो कोई बात नहीं, यह रहे, अवश्य रहे; पर हम दूसरेसे घृणा न करके अपने अन्दर जो दम्भकी वृत्ति है- मलिन, गिरे हुए पापोंसे भरे हुए होनेपर भी अपनेको उज्ज्वल, ऊँचा, पवित्र दिखानेकी जो आदत है, उससे घृणा करें।
- ऐसे ही द्वेष दूसरोंसे न करके हम अपनी नीच दुर्बलताओंसे करें, उन्हें पनपने न दें, वे तनिक भी बढ़ी हुई दीखें कि उनकी जड़ काट दें।
- कामना करें तो ऐसी करें- 'हमें राज्यसुख नहीं चाहिये, स्वर्गसुख भी नहीं, मोक्षसुखकी भी आवश्यकता नहीं, हमें तो यह चाहिये कि संसारमें पड़े हुए, दुःखतापसे पीड़ित समस्त प्राणियोंका दुःख मिट जाय, सभी सुखी हो जायँ।'
- क्रोध आवे तो अपने मनकी चंचलतापर ही आवे, जो बार-बार हमें प्रभुके संयोगसे अलगकर संसारमें घसीट लाती है; हमारे क्रोधसे ऐसी आग निकले कि जिसमें हमारे मनकी चंचलता भस्म हो जाय और वह प्रभुमें सदाके लिये समाहित हो जाय। मन हो तो इस बातका कि 'हमपर प्रभुकी कैसी अनन्त अपार असीम कृपा है, उनकी कृपा पाकर हम कितने महान् बन गये हैं,
- ऐसे ही लोभ हो तो जगत् रूपमें विराजित प्रभुकी सेवाका ही हो। तन, मन, धन अपना सर्वस्व लगाकर अतिशय प्रेम एवं आदरसे हम जगत्के प्रत्येक प्राणीकी, उसमें प्रभुको प्रत्यक्ष देखकर निरन्तर सेवा करें। फिर भी अतृप्ति बनी रहे - हाय! सेवाका बहुत ही कम अवसर मिला, साधन भी हमारे पास नहीं।' कब हमें प्रभुकी सेवाके और भी सुन्दर अवसर एवं साधन प्राप्त होंगे।
- यदि मोह नहीं मिटता तो न मिटे, बल्कि यह और भी बढ़ जाय, इतना बढ़ जाय कि समस्त जगत्में फैल जाय, सारा जगत् हमारे मोहका विषय हो जाय, प्रभुके नाते सभी हमारे अपने बन जायँ।

❖ मत्सरतासे भी डर नहीं, वह भी रहे, पर वह उदय हो हमारी अपनी ही ख्यातिको देखकर; हम उन्नतिके पथपर तो निरन्तर आगे बढ़ते चलें पर अपनी ख्याति देखकर, जगत् में अपना मान-सम्मान देखकर हममें डाह हो, हम उनके मिटनेकी इच्छा करने लगें।

इस प्रकार यदि इन दुर्गुणोंका अपने ऊपर उचित मात्रामें प्रयोग हो तो ये दोष ही हमें प्रभुकी प्राप्ति करानेवाले, पद-पदपर परमानन्द, परम शान्तिका दान करनेवाले सद्गुण बन जायँगे।

☸☸☸

अनवरत, **दीर्घकालतक**, **आदरपूर्वक** हमें या तो दुर्गुणोंके विरोधी भावोंका पोषण करना होगा या इनको अपने प्रति ही उपर्युक्त ढंगसे जोड़ना होगा। तभी हम इन्हें छोड़ पायेंगे या सहायक बना सकेंगे।

पर यदि ऐसी साधनामें लगना, इतना **परिश्रम** करना हमारे लिये सम्भव न हो तो उस परिस्थितिमें हम एक काम करें- जिन प्रभुसे जगत्में अनन्त सद्गुण आते हैं, जो अनन्त सद्गुणोंकी खान हैं, उनके हाथोंमें हम **अपने-आपको पूर्णरूपसे सौंप दें। सौंपते ही हमारे 'अहम्' के स्थानपर प्रभुकी सत्ता व्यक्त हो जायगी, उनके परम दिव्य आलोकमें हमारा अनादि अन्धकार उसी क्षण विलीन हो जायगा**। हमारे दोष-दुःख सदाके लिये मिट जायँगे। यह संसार ही हमारे लिये कुछ और हो जायगा। आज। जो हमें यह सर्वत्र पाप-तापसे भरा दीखता है, वह फिर दिव्य मधुसे भरा प्रतीत होगा।

'मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः।'

वायुमें मधु भरा है, मधुर मन्दगतिसे वह प्रवाहित हो रही है। नदियाँ मधुररसका स्राव कर रही हैं ऐसी अनुभूति करके हम कृतार्थ हो जायँगे।

ॐ ॐ ॐ